जैनधर्म सर्वोदयतीर्थ है

• डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

धर्म और उसकी आवश्यकता क्यों? - धर्म जीवन है और जीवन धर्म है। जीवन पवित्रता का प्रतीक है। उसकी पवित्रता संसार के राग-रंगों से दूषित हो गई है। इसलिये उस दूषण को दूर करने के लिए तथा जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए धर्म का अवलम्बन लिया जाता है। यह अवलम्बन साधन है। साध्य और साधन की पवित्रता धर्म की अन्तश्चेतना है। अन्तश्चेतना विवेक का जागरण करती है और जागरण से व्यक्ति नई सांस लेता है। नई प्रतिध्वनि से उसका हृदय गूंज उठता है। गंभीरता, उदारता, दयालुता, सरलता, निरहंकारिता आदि जैसे मानवीय गुण उसमें स्वतः स्फुरित होने लगते हैं। जीवन अमृत-सरिता में डुबकी लेने लगता है। देश, काल, स्थान आदि की सीमाएं समाप्त हो जाती है और विश्वबन्धुत्व तथा सर्वोदय की भावना का उदय हो जाता है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो जाती है।

जैनधर्म इस दृष्टि से वस्तुतः जीवनधर्म है। मानव धर्म है। वह जीवन को सही ढंग से जीना सिखाता है, जात-पांत के भेदभाव के ऊपर उठकर अपने सहज स्वभाव को पहिचान करने का मूलमन्त्र देता है, श्रमशीलता का आव्हानकर पुरुषार्थ को जाग्रत करता है, विवाद के घेरों में न पड़कर सीधा-सादा मार्ग दिखाता है, संकुचित और पतित आत्मा को ऊपर उठाकर विशालता की ओर ले जाता है, सद्वृत्तियों के विकास से चेतना का विकास करता है, और आत्मा को पवित्र, निष्कलंक व उन्नत बनाता है। यही उसकी विशेषता है यही जैनधर्म है और यही सर्वोदयतीर्थ है।

कटघरों को तैयार करनेवाला धर्म, धर्म नहीं हो सकता। भेदभाव की कठोर दीवाल खड़ीकर खेत उगाने की बात करनेवाला संकीर्णता के विष से वाधित हो जाता है, तुरन्त फल का लोभ दिखाकर जनमानस को शंकित और उद्विग्न कर देता है, दूसरों को दुःखी बनाकर अपने क्षणिक सुख की कल्पनाकर आल्हादित होता है, विसंगतियों के बीज बोकर समाज के गर्त में ढकेल देता है, बिखराव खड़ाकर साम्प्रदायिकता की भीषण आग जला देता है और सारी सामाजिक व्यवस्था को चकनाचूर कर नया बखेड़ा शुरू कर देता है। इन काले कारनामों से धर्म की आत्मा समाप्त हो जाती है। धर्म का मौलिक स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और बच जाता है उसका मात्र कंकाल जो किसी काम का नहीं रहता।

जैनधर्म व्यक्ति और समाज को धर्म की इस कंकाल मात्रता से ऊपर उठाकर ही बात करता है। उसका मुख्य उद्देश्य जीवन के यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित कर नूतन पथ का निर्माण करना रहा है। वहीं धारण करनेवाला तत्व है जिसका अस्तित्व धर्म के अस्तित्व से जुड़ा है और जिसके दूर जाने से मानवता का सूत्र भी कट जाता है। मानव-मानव के बीच कटाव के तत्वों को समाप्त कर सर्वोदय के मार्ग को प्रशस्त करना धर्म की मूल भावना है। व्यक्ति और समाज के उत्थान की भूमिका में धर्म नींव का पत्थर होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण संस्कृति और सर्वोदय दर्शन - जैनधर्म श्रमण संस्कृति की आधारशिला है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद और एकात्मकता उसके विशाल स्तम्भ हैं जिन पर उसका भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप उसके सोपान है जिसके माध्यम से भव्यप्रासाद के ऊपर तक पहुँचा जा सकता है। सर्वोदय उसकी लहराती सुन्दर ध्वजा है जिसे लोग दूर से ही देखकर उसकी मानवीय विशेषता को समझ लेते हैं। समता इस ध्वजा का मेरूदण्ड है जिसपर वह अवलम्बित है और वीतरागता उस प्रासाद की रमणीकता है जिसे उसकी आत्मा कहा जा सकता है।

श्रमण संस्कृति की ये मूलभूत विशेषताएं सर्वोदय दर्शन में आसानी से देखी जा सकती है। सर्वोदय दर्शन प्रस्तुतः आधुनिक चेतना की देन नहीं। उसे यथार्थ में महावीर ने प्रस्तुत किया था। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र की विषमता को देखकर क्रान्ति के तीन सूत्र दिये -१. समता, २. शमता, ३. श्रमशीलता। समता का तात्पर्य है सभी व्यक्ति समान हैं। जन्म से न तो कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र है। मनुष्य तो जाति नामकर्म के उदय से एक ही है। आजीविका और कर्म के भेद से अवश्य उसे चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

मनुष्यजातिरेकैं न जातिकर्मोदयाद्भव।
वृत्तिभेदाहितद्भेदाच्चतुर्विध्यमिहाश्नुते॥

-जिनसेनाचार्य, आदिपुराण,

शमता कर्मों के समूल विनाश से संबद्ध है। इस अवस्था को निर्वाण कहा जाता है। वैदिक संस्कृति का मूलरूप स्वर्ग तक ही सीमित था। उसमें निर्वाण का कोई स्थान ही नहीं था। जैनधर्म के प्रभाव से उपनिषद्काल में उसमें निर्वाण की कल्पना ने जन्म लिया। जैनधर्म के अनुसार निर्वाण के दरवाजे सभी के लिए खुले हुए हैं। वहाँ पहुंचने के लिए किसी वर्ग विशेष में जन्म लेना आवश्यक नहीं। आवश्यक है, उत्तम प्रकार का चारित्र और विशुद्ध जीवन।

श्रमशीलता श्रमण संस्कृति की तीसरी विशेषता है। इसका तात्पर्य है व्यक्ति का विकास उसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है, ईश्वर आदि की कृपा पर नहीं। वैदिक संस्कृति में स्वयं का पुरूषार्थ होने के बावजूद उस पर ईश्वर का अधिकार है। ईश्वर की कृपा से ही व्यक्ति स्वर्ग और नरक जा सकता है। जैन संस्कृति में इस प्रकार के ईश्वर का कोई स्थान नहीं। वह जो कुछ भी कर्म करता है उसी का फल उसी को स्वतः मिल जाता है। करम के कर्ता और भोक्ता के बीच ईश्वर जैसे दलाल का कोई स्थान नहीं। ईश्वर यदि हम आप जैसा दलाल होगा और सृष्टि के रचने संरक्षण करने और विनाश करने में उसी की मर्जी होगी तो ईश्वर में और हम आप जैसे संसारी जीवों के बीच भेदक-रेखा ही क्या रहेगी? हाँ, जैनधर्म में दान-पूजा भक्ति भाव का महत्व निश्चित ही है। इन सत्कर्मों के माध्यम से साधक अपने निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त अवश्य कर लेता है। इसमें तीर्थंकर मात्र मार्गदृष्टा है, प्रदीप के समान, वह निर्वाणदाता नहीं। इसलिये व्यक्ति के स्वयं का पुरुषार्थ ही उसके लिए सब कुछ हो जाता है। ईश्वर की कृपा से उसका कोई संबंध नहीं। पराश्रय से विकास अवरूद्ध हो जाता है। बैसाखी का सहारा स्वयं का सहारा नहीं माना जा सकता। अतः जैनधर्म में व्यक्ति का कर्म और उसका पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोदयदर्शन आधुनिक काल में गाँधीयुग का प्रदेय माना जाता है। गाँधीजी ने रस्किन की पुस्तक "अन टू दी लास्ट' का अनुवाद सर्वोदय शीर्षक से किया और तभी से उसकी लोकप्रियता में बाढ़ आयी। यहाँ सर्वोदयवाद का तात्पर्य है प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक जीवन के विकास के लिए समान अवसर प्रदान किया जाना। इसमें पुरुषार्थ का महत्व तथा सभी के उत्कर्ष के साथ स्वयं के उत्कर्ष का संबंध भी जुड़ा रहता है। गाँधी जी के इस सिद्धांत को विनोबाजी ने कुछ और विशिष्ट प्रक्रिया देकर कार्यक्षेत्र में उतार दिया। सर्वोदय का प्रचार यहीं से हुआ है। वैसे इतिहास की दृष्टि से विचार किया जाये तो सर्वोदय शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है। प्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर की स्तुति "युक्त्यनुशासन' में इस प्रकार की है -

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव॥

यहाँ सर्वोदय शब्द दृष्टव्य है। सर्वोदय का तात्पर्य है सभी की भलाई। महावीर के सिद्धान्तों में सभी की भलाई सन्तिहित है। उसमें परिश्रम और समान अवसर का भी लाभ प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुरक्षित है।

राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि भाव संपत्ति का अपरिमित संग्रह, दूसरे की दृष्टि को बिना समझे ही निरादर कर संघर्ष को मोल लेना तथा राष्ट्रीयता का अभाव ये चार प्रमुख तत्व व्यक्ति के विकास में बाधक होते हैं। सभी का विकास १. अहिंसा, २. अपरिग्रह, ३. अनेकान्तवाद और ४. एकात्मता पर विशेष आधारित है। अतः जैनधर्म के इन सर्वोदयी सूत्रों पर संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

अहिंसा - अहिंसा सर्वोदय की मूल भावना है। वह अपरिग्रह की भूमिका को मजबूत करती है अहिंसा समत्व पर प्रतिष्ठित है। मैत्री, प्रमाद, कारुण्य और माध्यस्था भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, तप और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा का प्रमुख रूप है। उसकी पुनीत प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यवचारित्र पर अवलंबित है। इसी चरित्र को धर्म कहा गया है। यही धर्म सम है। यह समत्व राग-द्वेषादिक विकारों के विनष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है। धर्म से परिणत आत्मा को ही सम कहा गया है। धर्म की परिणति निर्वाण है। आचार्य कुन्दकुन्द का यही चिंतन है -

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो॥
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामों अप्पणों हिसमो॥

-प्रवचनसार १, ६-७

धर्म व स्तुतः आत्मा का स्पन्दन है जिसमें कारुण, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या संम्प्रदाय से संबद्ध और प्रतिबद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमांगलिक है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा से संभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है, गुणभेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषेधात्मक अवस्था आती है। अतः विधिपाक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिये संयम तप, दया आदि जैसे विधेयात्मक मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा।

हिंसा का मूल कारण है प्रमाद और कषाय। इसके वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, कार्य में क्रोधादिक भाव प्रगट होते हैं जिनसे स्वयं के शब्द प्रयोग रूप भावप्राणों का हनन होता है। कषायादिक तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणों का हनन होता है। इसके अतिरिक्त दूसरे को गर्मान्तक वेदनादान अथवा परद्रव्यव्यपरोपण भी इन भावों का कारण है। इस प्रकार हिंसा में चार भेद हो जाते हैं स्वभावहिंसा, स्व-द्रव्यहिंसा, पर भावहिंसा और द्रव्यहिंसा (पुरुषार्थ सिद्धयुपांय ४३)। आचार्य उमास्वामि ने इसी का संक्षेप में प्रमत्तयोगात् प्राणव्यरोपण हिंसा कहा है। इसलिये भिक्षुओं को कैसे चलना फिरना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए आदि जैसे प्रश्नों का उत्तर दशवैकालिक, मूलाचार आदि ग्रन्थों में दिया गया है कि उसे यत्नपूर्वक अप्रमत्त होकर उठना बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन-भाषण करना चाहिए।

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए
कर्थ भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धई
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई॥ दशवैकालिक, ४. ७-८

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव हैं। उनके दूर हो जाने पर स्वभावतः अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दों में समस्त प्राणियों के प्रति संयमभाव ही अहिंसा है। अहिंसा निउणं दिट्ठां सव्वभूंएसु संजमो (दश.)। उसके सुख संयम में प्रतिष्ठित है। संयम ही अहिंसा है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्परा एकात्मक कल्याण मार्ग से अबद्ध रहे। उसमें सौहार्द्र, आत्मोत्थान, स्थायीशान्ति, सुख और पवित्र साधनों का उपयोग होता है, यही यथार्थ में उत्कृष्ट मंगल है।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वितं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥ दशवैकालिक १.१

मन, वचन, काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन व दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना, रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, तप, और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है -

संजमु सीलु सउज्जु तनु सूरि हिं गुरु सोई।
दाह छेदक संघायकसु उत्तम कंचणु होई॥ भावपाहुड़ १४३ टीका

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलना-फिरता है किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भय-विमुक्त होने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारंभ कर देता है, उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधना मार्ग पर बड़ी सतर्कता पूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित होने पर वह पंचेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान (अंतर) में ही गोपन कर लेता है

जहा कुम्मे स अंगाइं सए देहे समाहरे
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे॥ सूत्रकृतांग १.८.६

संयमी व्यक्ति सर्वोदयनिष्ठ रहता है। वह इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल लगता हो। तदर्थ उसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ्य भावनाओं का पोषक होना चाहिए। तभी सुखी ओर निरोग है, किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥
मा कार्षीत कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखतः
मुच्यतां जगदप्येषा मति मैत्री निगयते॥ यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध

दूसरों के विकास में प्रसन्न होना प्रमोद है। विनय उसका मूल साधन है। ईर्ष्या उसका सबसे बड़ा अन्तराय है। कारुण्य अहिंसा भावना का प्रधान केन्द्र है। दुःखी व्यक्तियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनमें उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। माध्यस्थ्य भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। निःशंक होकर क्रूर कर्मकारियों पर अत्मप्रशंसकों पर, निंदकों पर उपेक्षाभाव रखना मध्यस्थ भाव है। इसी को समभाव भी कहा गया है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही, स्थावर जीवों का संरक्षक तथा लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में, विशुद्ध हृदय से समदृष्ट होता है। समजीवी व्यक्ति ही मर्यादाओं व नियमों का प्रतिष्ठायक होता है। वही उसकी समचरिता है। वही उसकी सर्वोदयशीलता है।

महावीर की अहिंसा पर विचार करते समय एक प्रश्न हर चिन्तक के मन में उठ खड़ा होता है कि संसार में जब युद्ध आवश्यक हो जाता है, तो उस समय साधक अहिंसा का कौन-सा रूप अपनायेगा। यदि युद्ध नहीं करता है तो आत्मरक्षण और राष्ट्ररक्षा दोनों खतरे में पड़ जाती है और यदि युद्ध करता है तो अहिंसक कैसा? इस प्रश्न का समाधान जैन चिन्तकों ने किया है। उन्होंने कहा है कि आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा करना हमारा कर्तव्य है। चंद्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के शताधिक बार दांत खट्टे किए हैं। जैन साहित्य में जैन राजाओं की युद्धकला पर भी बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद में उन्हीं राजाओं को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। यह उनके अनासक्ति भाव का सूचक है। अतः यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नहीं है। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है। यह विरोधी हिंसा है। चूर्णियों और टीकाओं में ऐसी हिंसा को गर्हित माना गया है। सोमदेव ने इसी स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए स्पष्ट कहा है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यः शस्त्रवृत्ति समरे रिपुः स्वात्
यः कष्टको वा निजमण्डलस्टा।
तमैंव अस्त्राणि नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकालीन कदाशयेषु॥

२. अपरिग्रह - अपरिग्रह सर्वोदय का अन्यतम अंग है। उसके अनुसार व्यक्ति और समाज परम्परा आश्रित है। एक दूसरे के सहयोग के बिना जीवन का प्रवाह गतिहीन सा हो जाता है। परस्परोऽपग्रहो जीवानाम) प्रगति सहमूलक होती है, संघर्षमूलक नहीं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संघर्ष का वातावरण प्रगति के लिए घातक होता है। ऐसे घातक वातावरण के निर्माण में सामाजिक विषम वातावरण प्रमुख कारण होता है। तीर्थंकर महावीर ने इस तथ्य की मीमांसाकर अपरिग्रह का उपदेश दिया और सही समाजवाद की स्थापना की।

समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति को समाज के लिए कुछ उत्सर्ग करना पड़ता है। दूसरों के सुख के लिए स्वयं के सुख को छोड़ देना पड़ता है। सांसारिक सुखों का मूल साधन संपत्ति का संयोजन होता है। हर संयोजन की पृष्ठभूमि में किसी न किसी प्रकार का राग, द्वेष, मोह आदि विकार भाव होता है। संपत्ति के अर्जन में सर्वप्रथम हिंसा होती है। बाद में उसके पीछे झूठे, चोरी, कुशील अपना व्यापार बढ़ाते हैं। संपत्ति का अर्जन परिग्रह है और परिग्रह ही संसार का कारण है।

जैन संस्कृति वस्तुतः मूल रूप से अपरिग्रहवादी संस्कृति है। जिन, निर्ग्रंथ, वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक हैं। अप्रमाद का भी उपयोग इसी संदर्भ में हुआ है। मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। यह मूर्छा प्रमाद है और प्रमाद कषायजन्य है भाव है। राग द्वेषादि भाव से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। मिथ्यात्व कषाय, मोहकषाय, इन्द्रिय विषय आदि अन्तरंग परिग्रह है और धन धान्यादि बाह्यपरिग्रह है। ये आश्रव के कारण है। इन कारणों से ही हिंसा होती है प्रमत्तयोगातु प्राणव्यपरोपर्ण हिंसा यह हिंसा कर्म है और कर्म परिग्रह है।

आचारांगसूत्र कदाचित, प्राचीनतम आगम ग्रन्थ है। जिसका प्रारम्भ ही शस्त्रपरिज्ञा से होता है। शस्त्र का तात्पर्य है हिंसा। हिंसा के कारणों की मीमांसा करते हुए वहाँ स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति वर्तमान जीवन के लिए, प्रशस्त, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिये, दुःख प्रतिकार के लिए तरह-तरह की हिंसा करता है। द्वितीय अध्ययन लोकविजय में इसे भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि सांसारिक विषयों का संयोजन प्रमाद के कारण होता है। प्रमादी व्यक्ति रात दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल में अर्थार्जन का प्रयत्न करता है, संयोग का अर्थी होकर और अर्थलोलुपी चोर या लुटेरा हो जाता है। उसका चिन्त अर्थार्जन में ही लगा रहता है। अर्थार्जन में संलग्न पुरुष पुनः पुनः शस्त्रसंहारक बन जाता है। परिग्रही व्यक्ति में न तप होता है, न शान्ति और न नियम होता है। वह सुखार्थी होकर दुःख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार संसार का प्रारम्भ आसक्ति से होता है और आसक्ति ही परिग्रह है। परिग्रह का मूल साधन हिंसा है, झूठ, चोरी कुशील उसके अनुवर्तक हैं। और परिग्रह उसका फल है। अतः जैन संस्कृति मूलतः अपरिग्रहवादी संस्कृति है जिसका प्रारम्भ अहिंसा के परिपालन से होता है। महावीर ने अपरिग्रह को ही प्रथम माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक युग में मार्क्स सम्यवाद के प्रस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने लगभग वही बात की है जो आज से २५०० वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर कह चुके थे। तीर्थंकर महावीर ने संसार के कारणों की मीमांसा कर उनसे मुक्त होने का उपाय भी बताया पर मार्क्स आधे रास्ते पर ही खड़े रहे। दोनों महापुरुषों के छोर अलग-अलग थे। महावीर ने "आत्मतुला" की बातकर समविभाजन की बात कही और हर क्षेत्र में मर्यादित रहने का सुझाव दिया। परिमाणव्रत वस्तुतः संपत्ति का आध्यात्मिक विकेन्द्रीकरण है और अस्तित्ववाद उसका केन्द्रीय तत्व है। जबकि मार्क्सवाद में ये दोनों तत्व नहीं है।

परिग्रही वृत्ति व्यक्ति को हिंसक बना देती है। आज व्यक्ति की निष्ठा, कर्तव्यनिष्ठा को चीरती हुई स्वकेन्द्रित होती चली जा रही है। राजनीति और समाज में भी नये-नये समीकरण बनते चले आये हैं। राजनीति का नकारात्मक और विध्वंसात्मक स्वरूप किंकर्तव्यविमूढ़ सा बन रहा है। परिग्रही लिप्सा से आसक्त असामाजिक तत्वों के समक्ष हर व्यक्ति घुटने टेक रहा है। डग-डग पर असुरक्षा का भान हो रहा है। ऐसा लगता है, सारा जीवन विषाक्त परिग्रही राजनीति में रस्थ हो गया है। वर्गभेद, जातिभेद, संप्रदायभेद जैसे तीखे कटघरे परिग्रह के धूमिल साये में स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता पूर्वक पल पुस रहे हैं।

इस हिंसकवृत्ति से व्यक्ति तभी विमुख हो सकता है, जब वह अपरिग्रह के सोपान पर चढ़ जाये। परिग्रह परिमाणव्रत का पालन साधक को क्रमशः तात्विक चिन्तन की ओर आकर्षित करेगा। और समता नींव तथा समविभाजन की प्रवृत्ति का विकास होगा। अणुव्रत की चेतना सर्वोदय की चेतना है।

३. अनेकान्तवाद और सर्वोदयदर्शन - अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद पृथक नहीं लिये जा सकते। अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित तीर्थंकर महावीर का सार्वभौमिक सिद्धान्त है, जो सर्वधर्मभाव के चिन्तन से अनुप्राणित है। उसमें लोकहित, लोकसंग्रह और सर्वोदय की भावना गर्भित है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का अभेद्य अस्त्र है। समन्वयवादिता के आधार पर सर्वथा एकान्तवादियों को एक प्लेटफार्म पर ससम्मान बैठाने का उपक्रम है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण होता है। संसार में जितने भी युद्ध हुए हैं उनके पीछे यही कारण रहा है। अतः संघर्ष को दूर करने का उपाय यही है कि हम प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के विचारों पर उदारता और निष्पक्षता पूर्वक विचार करें। उससे हमारा दृष्टिकोण दुराग्रही और एकांगी नहीं होगा।

प्राचीन काल से ही समाज शास्त्री और अशास्त्रीय विसंवादों में जूझता रहा है, बुद्धि और तर्क के आक्रमणों को सहता रहा है, आस्था और ज्ञान में थपेड़ों को झेलता रहा है। तब कही एक लम्बे समय के बाद उसे यह अनुभव हुआ कि इन बौद्धिक विषमताओं के तीखे प्रहारों से निष्पक्ष और निर्वैर होकर मुक्त हुआ जा सकताा है, सान्ति की पावन धारा में संगीतमय गोते लगाये जा सकते हैं और वादों के विषैले घेरे को मिटाया जा सकता है। इसी तथ्य और अनुभूति ने अनेकान्तवाद को जन्म दिया और इसी ने सर्वोदयदर्शन की रचना की।

मानवीय एकता, सह-अस्तित्व, समानता और सर्वोदयता धर्म के तात्विक अंग है। तथाकथित धार्मिक विज्ञान और आचार्य इन अंगों को तोड़-मरोड़कर स्वार्थवश वर्गभेद और वर्णभेद जैसी विचित्र धारणाओं की विषेली आग को पैदा कर देते हैं जिसमें समाज की भेड़ियाधसान वाली वृत्ति वैचारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धरातल से असंबद्ध होकर कूद पड़ती है। उसके सारे सभी कारण झुलस जाते हैं। दृष्टि में हिंसक व्यवहार अपने पूरे शक्तिशाली स्वर में गूंजने लगता है, शोषण की मनोवृत्ति सहानुभूति और सामाजिकता की भावना को कुंठित कर देती है, वयक्तिक और सामूहिक शान्ति का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। इस दुर्वस्था की सारी जिम्मेदारी एकान्तवादि चिन्तकों के सबल हिंसक कंधों पर है जिसने समाज को एक झटकाव दिया है, अशान्ति का एक आकार-प्रकार खड़ा किया है और पड़ोसी को पड़ोसी जैसा रहने में संकोच, वितृष्णा और मर्यादाहीन भरे व्यवहारों की लौहिक दिवाल को गढ़ दिया है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदयदर्शन इन सभी प्रकार की विषमताओं से आपादमग्न समाज को एक नई दिशा-दान देता है। उसकी कटी पतंग को किसी तरह सम्हालकर उसमें अनुशासन तथा सुव्यरस्था की सुस्थिर, मजबूत और सामुदायिक चेतना से सनी डोर लगा देता है, आस्था और ज्ञान की व्यवस्था में नया प्राण फूंक देता है। तब संघर्ष के स्वर बदल जाते हैं। समन्वय की मनोवृत्ति समता की प्रतिध्वनि, सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है, अपने शास्त्रीय व्यामोह से मुक्त होने के लिए अपने वैयक्तिक एक पक्षीय विचारों की आहूति देने के लिए और निष्पक्षता, निर्वेता-निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता को धूल धसरित होने से बचाने के लिए।

इस प्रकार की अनैतिकता और अस्तित्व को मिटाने तथा शुद्ध ज्ञान और चरित्र का आचरण करने की दृष्टि से अनेकान्तवाद और सर्वोदयदर्शन एक अमोघ सूत्र है। समता की भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर आत्मदर्शी होना उसके लिए आवश्यक है। समता मानवता की सही परिभाषा है, समन्वयवृत्ति उसका सुन्दर अक्षर है, निर्मलता, और निर्भयता उसका फुलस्टाप है, निराग्रहीवृत्ति और असाम्प्रदायिकता उसका पैराग्राफ है।

अनैकान्तिक और सर्वोदय चिन्तन की दिशा में आगे बढ़नेवाला समाज पूर्ण अहिंसक और आध्यात्मिक होगा। सभी के उत्कर्ष में वह सहायक होगा। उसके साधन और साध्य पवित्र होंगे। तर्क शुष्कता से हटकर वास्तविकता की ओर बढ़ेगा। हृदय-परिवर्तन के माध्यम से सर्वोदय की सीमा को छुएगा। चेतना-व्यापार के साधन इन्द्रियाँ और मन संयमित होंगे। सत्य की प्रामाणिकता असंदिग्ध होती चली जायेगी। सापेक्षिक चिन्तन व्यवहार के माध्यम से निश्चय तक क्रमशः बढ़ता चला जायेगा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बहिरंग से अन्तरंग की ओर, सांव्यावहारिक से पार मार्थिक की ओर, ऐन्द्रियक ज्ञान से आत्मिक ज्ञान की ओर।

सापेक्षिक कथन दूसरों के दृष्टिकोण को समान रूप से आदर देता है। खुले मस्तिष्क से पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान करता है। प्रतिपाद्य की यथार्थवता प्रतिबद्धता से मुक्त होकर सामने आ जाती है। वैचारिक हिंसा से व्यक्ति दूर हो जाता है। अस्ति-नस्ति के विवाद से मुक्त होकर नयों के माध्यम से प्रतिनिधि शब्द समाज और व्यक्ति को प्रेमपूर्वक एक प्लेटफार्म पर बैठा देते हैं। चिंतन और भाषा के क्षेत्र में "न या सियावाय वियागरेज्जा" का उपदेश समाज और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्दों को समाप्त कर देता है, सभी को पूर्णन्याय देकर सरल, स्पष्ट, और निर्विवाद अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देता है। आचार्य सिद्धर्सन ने "धार्विव समुदीर्णा स्त्वाय नाथ हस्टयः" कहकर इसी तथ्य को अपनी भगवद् स्तुति में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र की भी समन्वयात्मक साधना इस संदर्भ में स्मरणीय है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भववीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै"

अनेकान्तवाद और सर्वोदय दर्शन समाज के लिए वस्तुतः एक संजीवनी है। वर्तमान संघर्ष के युग में अपने आपको सभी के साथ मिलने जुलने का एक अभेध अनुदान है, प्रगति का एक नया साधन है, पारिवारिक द्वेष को समाप्त करने का एक अनुपम चिंतन है, अहिंसा और सत्य की प्रतिष्ठा का केन्द्रबिन्दु है, मानवता की स्थापना में नींव का पत्थर है, पारस्परिक समझ और सह अस्तित्व के क्षेत्र में एक सबल लेंप पोस्ट है। इनकी उपेक्षा विद्वेष और कटुता का आवाहन है, संघर्षों की कक्षाओं का प्लाट है, विनाश उसका क्लायमेक्स है, विचारों और दृष्टियों की टकराहट तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खड़ा हुआ एकलंबा गेप वैयक्तिक और सामाजिक संघर्षों की लांधकर राष्ट्र और विश्वस्तर तक पहुंच जाता है। हर संघर्ष का जन्म विचारों का मतभेद और उसकी पारस्परिक अवमानना से होता है। बुद्धिवाद उसका केन्द्रबिन्दु है।

अनेकान्तवाद बुद्धिवादी होने का आग्रह नहीं करता। आग्रह से तो वह मुक्त है ही पर वह इतना अवश्य कहता है कि बुद्धिनिष्ठ बनें। बुद्धिवाद खतरावाद है, विद्वानों की उखाड़ा-पछाड़ी है। पर बुद्धिनिष्ठ होना खतरा और संघर्षों से मुक्त होने का साधन है। यही सर्वोदयवाद है। इसे हम मानवतावाद भी कह सकते हैं जिसमें अहिंसा, सत्य, सहिष्णुता, समन्वयात्मकता, सामाजिकता, सहयोग, सद्भाव और संयम जैसे आत्मिक गुणों का विकास सन्नध्द है। सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान भी इसकी सीमा से बहिर्भूत नहीं रखे जा सकते। व्यक्तिगत, परिवारगत, संस्थागत और सम्प्रदायगत विद्वेष की विषैली आग का शमन भी इसी के माध्यम से होना संभव है। अतः सामाजिकता के मानदण्ड में अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद खरे उतरे हैं।

४. एकात्मकता - सर्वोदय के साथ एकात्मकता अविछिन्न रूप से जुड़ी हुई है। राष्ट्र का अस्तित्व एकात्मकता की श्रृंखला से संबद्ध है। राष्ट्रीयता का जागरण उसके विकास का प्राथमिक चरण है। जन-मन में शान्ति, सह अस्तित्व और अहिंसात्मकता उसका चरम बिन्दु है। विविधता में पत्ली-पुसी एकता सौजन्य और सौहार्द्र को जन्म देती हुई "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का पाठ पढ़ाती है।

श्रमण व्यवस्था ने उस एकात्मकता को अच्छी तरह परखा भी और संजोया भी अपने विचारों में उसे जैनाचार्यों और तीर्थंकरों ने समता, पुरुषार्थ और स्वावलम्बन को प्रमुखता देकर जीवन को एक नया आयाम दिया। श्रमण संस्कृति ने वैदिक संस्कृति में धोखे-धोखे से आयी विकृत परंपराओं के विरोध में जेहाद बोल दिया और देखते ही देखते समाज का पुनः स्थितिकरण कर दिया। यद्यपि उसे इस परिवर्तन में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा पर अन्ततोंगत्वा उसने एक नये समाज का निर्माण कर दिया। इस समाज की मूल निधि चारित्रिक पवित्रता और दृढ़ता थी जिसे उसने थाती मानकर कठोर झंझवातों में भी अपने आपको संभाले रखा।

भावात्मक एकता के संदर्भ में जैन संस्कृति ने लोकभाषाओं का उपयोग कर जो अनूठा कार्य किया है वह अपने आप में बेमिसाल है। संस्कृति एक वर्ग विशेष की भाषा बनकर रह गयी थी जो सर्वसाधारण समाज के परे थी। जैनाचार्यों ने उसे तो अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया ही पर साथ ही प्राकृत बोलियों का भी भरपुर उपयोग कर साहित्य सृजन किया। ये प्राकृत बोलियाँ वही हैं जिन्होंने भारत की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समूची आधुनिक भाषाओं को जन्म दिया और उनके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। एकात्मकता जीवन का सौंदर्य है। जैन संस्कृति ने जीवन को पुष्पित-फलित बनाने के शाश्वत साधन प्रस्तुत किये हैं। जीवन की यथार्थता प्रामाणिकता से परे होकर नहीं हो पाती। साध्य के साथ साधनों की पवित्रता भी आवश्यक है। साधन यदि पवित्र और विशुद्ध नहीं होंगे, बीज यदि सही नहीं होंगे तो उससे उत्पन्न होने वाले फल मीठे कैसे हो सकते हैं? जीवन की सत्यता ही धर्म है। धोखा-प्रवंचना जैसे असामाजिक तत्वों का उसके साथ कोई सामंजस्य नहीं। धर्म और है भी क्या? धर्म का वास्तविक संबंध खान-पान और दकियानूसी विचारधारा से जुड़े रहना नहीं, वह तो ऐसी विचार क्रांति से जुड़ा है जिसमें मानवता और सत्य का आचरण कूट-कूट कर भरा है। एकात्मकता और सर्वोदय की पृष्ठभूमि में जीवन का यही रूप पलता-पुसता है।

आज की भौतिकताप्रधान संस्कृति में जैन धर्म सर्वोदयतीर्थ का काम करता है। जैनधर्म वस्तुतः एक मानव धर्म है उसके अनुसार व्यक्ति यदि अपना जीवन-रथ चलाये तो वह ऋषियों से भी अधिक पवित्र बन सकता है। श्रावक धर्म की विशेषता यह है कि उसे न्याय-पूर्वक धन-सम्पत्ति का अर्जन करना चाहिए और सदाचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। सर्वोदय दर्शन में परहित के लिए अपना त्याग आवश्यक हो जाता है जैनधर्म ने उसे अणुव्रत किंवा परिमाणव्रत की संज्ञा दी है इसमें श्रावक अपनी आवश्यकतानुसार सम्पत्ति का उपभोग करता है और शेष भाग समाज के लिए बांट देता है।

सर्वोदय और विश्व-बंधुत्व के स्वप्न को साकार करने में भगवान महावीर के विचार निःसंदेह पूरी तरह सक्षम है। उनके सिद्धांत लोकहितकारी और लोकसंग्राहक हैं। समाजवाद और अध्यात्मवाद के प्रस्थापक है। उनसे समाज और राष्ट्र के बीच पारस्परिक समन्वय बढ़ सकता है और मनमुटाव दूर हो सकता है। इसलिये ये विश्वशांति को प्रस्थापित करने में अमूल्य बन सकते हैं। महावीर इस दृष्टि से सही दृष्टार्थ और सर्वोदयतीर्थ के सही प्रेणता थे। मानव मूल्यों को प्रस्थापित करने में उनकी यह विशिष्ट देन है जो कभी भुलायी नहीं जा सकती।

इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि आधुनिक मानस धर्म को राजनीतिक हथकंडा न बनाकर उसे मानवता को प्रस्थापित करने के साधन का एक केन्द्रबिंदु माने। मानवता का सही साधक वह है जिसकी समूची साधना समता और मानवता पर आधारित हो और मानवता के कल्याण के लिए उसका मूलभूत उपयोग हो। एतदर्थ खुला मस्तिष्क, विशाल दृष्टिकोण, सर्वधर्म समभाव और सहिष्णुता अपेक्षित है। महावीर के धर्म की मूल आत्मा ऐसे ही पुनीत मानवीय गुणों से सिंचित है और उसकी अहिंसा वंदनीय तथा विश्वकल्याणकारी है। यही उनका सर्वोदयतीर्थ है।

न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर,
नागपुर ४४०-००१

* * * * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org